P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-1* (Part-1) April- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

'कर्मभूमि' और 'गोदान' में चित्रित वर्ग–संघर्ष

पूनम काजल
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर,
हिन्दी विभाग,
हिन्दू कन्या महाविद्यालय,
जींद

सारांश

प्रेमचन्द वर्ण–व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। अपने साहित्य को माध्यम बनाकर उन्होंने समाज की विसंगतियों व रूढ़ियों पर तीखा प्रहार किया है। उन्होंने अपने पत्रों 'हंस' और 'जागरण' में अपने युग की अनेक समस्याओं के साथ–साथ अछूत समस्या के विभिन्न पहलुओं पर भी जम कर लिखा है। उनकी अनेक रचनाओं में सामन्तवादी व्यवस्था और वर्ण–व्यवस्था की अनीतियों का यथार्थ चित्रण सहज ही देखा जा सकता है। चूँकि प्रेमचन्द अपने युग की रूढ़िवादिता से भली–भाँति परिचित थे। अतः उनका साहित्य रूढ़ियों एवं सड़ी–गली परम्पराओं से लांछित न हो कर सदैव समाज में स्वस्थ परम्पराओं के पोषण में सहायक रहा।

मुख्य शब्द : जीवनोद्योग, स्वेच्छाचारिता, अभ्युदय, निर्णीत, आबद्ध।

प्रस्तावना

प्रेमचन्द युग में वर्ण–व्यवस्था के कारण समाज अनेक छोटी–छोटी जातियों तथा उपजातियों में विभक्त हो गया। उसे ईश्वरीय विधान के अनुसार ही स्वयं को उच्च या नीच जाति का स्वीकार करना पड़ता था। चूँकि वर्ण–व्यवस्था में प्रत्येक का सामाजिक स्तर उसके जन्म पर आधारित था। इस कारण व्यक्ति अपनी पैतृक परम्परा से बाहर आ कर जीवनोद्योग करने का अधिकारी नहीं था। एक विशेष वर्ग ब्राह्मण ही इतर वर्णों का भाग्यविधाता था। इस व्यवस्था के कारण ही उच्च वर्गों में स्वेच्छाचारिता की भावना पैदा हो चुकी थी। इस सम्बन्ध में डॉ0 सरोज प्रसाद का कथन है– "वर्ण–व्यवस्था ने हिन्दू समाज को इतने भागों में बाँट रखा था और उन अनेकानेक भागों की विभाजक रेखा ऐसी बुलन्द थी कि हिन्दू समाज समानता का अनुभव कर ही नहीं सकता था।"[1]

अध्ययन का उद्देश्य

प्राचीन आर्यों ने गुण, धर्म, योग्यता और क्षमताओं के आधार पर समूचे समाज को चार वर्णों में विभाजित किया था। अपने मूल रूप में यह व्यवस्था कर्माश्रित थी और उसका उद्देश्य समाज के सभी वर्गों के लिए रूचि और योग्यता के अनुसार आजीविका की उपलब्धि करना था। कर्म के आधार पर हुआ यह जातिगत विभाजन कालान्तर में सवर्ण एवं अनुसूचित जातियों में तबदील हो गया और अहम् के कारण दोनों जातियों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। इस सन्दर्भ में डॉ0 मोहिनी शर्मा लिखती हैं– "जाति–व्यवस्था भारतीय समाज की संरचना की आधारशिला रही है। हजारों वर्षों के कालचक्रों से गुजरती हुई यह सामाजिक व्यवस्था भारत में आज भी विद्यमान है। इतिहास साक्षी है कि भारत में इस जाति–व्यवस्था ने जहाँ एक ओर हिन्दू समाज एवं संस्कृति को स्थायित्व प्रदान किया है, वहीं ऊँच–नीच का निर्धारण, वैवाहिक सम्बन्ध तथा कर्मकाण्ड आदि इसी के परिणाम हैं। इसलिए जाति–व्यवस्था, जो कभी भारतीय समाज का आधार बनी थी, वर्तमान परिवेश में एक समस्या होकर नितान्त अवांछित तत्व हो गई है।"[2]

19वीं शताब्दी में समाज के पढ़े–लिखे लोगों का ध्यान स्वभावतः ही इस सामाजिक कुरीति की ओर गया। परिणामतः 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूढ़िग्रस्त समाज के सुधार के लिए प्रयत्न हुए। 20वीं शताब्दी में ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज जैसी अनेक संस्थाओं के द्वारा हरिजनोद्धार आन्दोलन चलाए गए। महात्मा गांधी के उदार दृष्टिकोण तथा स्वतन्त्र भारत की मानसिकता के कारण इस देश में पहली बार यह अनुभव किया गया कि निम्न जाति के लोग भी मानवता का अधिकार रखते हैं। अतः उन्हें न केवल मनुष्य होने का अधिकार दिया गया, बल्कि उनके प्रति सवर्ण घृणा को भी अवैध ठहराया गया। इस सन्दर्भ में डॉ0 हेमेन्द्र कुमार पानेरी लिखते हैं – "आधुनिकता के अभ्युदय से पूर्व भारतीय समाज में मनुष्य का अपने व्यक्ति रूप में कोई स्थान नहीं था। समाज में कतिपय इस प्रकार के विधान बने हुए थे कि जन्म लेते ही व्यक्ति के सम्पूर्ण

जीवन का भावी रूप निर्णीत हो जाता था। जन्म के साथ ही जाति, परम्पराएँ, समाज, धर्म आदि विरासत में मिलते थे। इस आबद्ध जीवन में परम्परा से पृथक् होकर विचारने का मानव को अवकाश ही नहीं था और न इसकी आवश्यकता ही समझी जाती थी, किन्तु आधुनिक जीवन के प्रवाह में व्यक्ति के सामाजिक बंधन शिथिल हुए और व्यक्तिगत विकास के नवीन अवसर उपलब्ध होने लगे। स्वतन्त्र चिंतन ने व्यक्ति को नई दिशाएँ दीं। उसके समक्ष पूर्व निर्धारित विधि–निषेधों की शृंखलाएँ टूटने लगीं।"[3]

प्रेमचन्द गाँधी जी के विचारों से अत्यन्त प्रभावित थे। वे परम्परागत वर्ण–व्यवस्था के प्रति आस्था न रख कर व्यक्ति–विशेष को उसके आचरण की शुद्धता और दयालुता के आधार पर ऊँची या नीची श्रेणी का मानने के पक्षपाती थे। अपने उपन्यास 'कर्मभूमि' में उन्होंने अछूतों के संस्कारों एवं त्रुटियों को दूर करने का सफल प्रयास किया है। हरिजनों के मंदिर में प्रवेश न करने का विरोध शांतिकुमार, सुखदा और नैना करती हैं। अछूतों के मंदिर–प्रवेश का जो संघर्ष इस उपन्यास में दिखाया गया है, वह तत्कालीन समाज की संकुचित मानसिकता का द्योतक है। इसी उपन्यास में चमारों के गाँव में अमरकान्त द्वारा किए गए सेवा–कार्य में गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों की स्पष्ट झलक मिलती है। गाँधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ–साथ निम्न वर्ग के साधारण लोगों के प्रति प्रेमचन्द की निष्ठा और उदार संवेदना भी द्रष्टव्य है। सत्य तो यह है कि जिन सुधारों के प्रति गाँधी जी की निष्ठा थी, वे अल्पाधिक अनुपात में इस उपन्यास में प्रतिबिम्बित होते हैं। इनमें अन्त्यजों के मंदिर प्रवेश, शिक्षा–प्रसार आदि सुधारों का चित्रण प्रमुख है। जहाँ गाँधी जी ने अछूतों को उनके अधिकार दिलाने के लिए पसीना बहाया, वहीं प्रेमचन्द ने इन गरीब अछूतों को 'कर्मभूमि' में मंदिर–प्रवेश के लिए रंगमंच पर ला खड़ा किया। अछूतोद्वार के सम्बन्ध में निकट भविष्य में होने वाली घटनाओं का पहले से 'कर्मभूमि' में यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करके प्रेमचन्द ने निश्चय ही एक भविष्य द्रष्टा की भूमिका निभाई है।

'कर्मभूमि' उपन्यास की मुन्नी चारित्रिक हनन के पश्चात् अपने पति के घर न जा कर चमारों की बस्ती में आकर रहने लगती है। नीची जाति के लोगों का प्यार व सम्मान पाकर उसके अन्तःकरण की जीवनी शक्ति और आनन्द की इच्छा फिर से जाग्रत हो जाती है। प्रेमचन्द लिखते हैं – "यहाँ उसका आदर है, मान है, वह अपनी जात–पात भूल गई, आचार–विचार भूल गई और ऊँची जाति की ठकुराइन अछूतों के साथ अछूत बनकर आनन्दपूर्वक रहने लगी.....।"[4]

परम्पराओं और मिथ्या मान–मर्यादाओं को त्यागकर अछूतों के बीच समभाव से रहते हुए वह उनमें जागृति प्रसारित करने के लिए प्रयत्नशील है। अब वह केवल अपने लिए ही जीवित नहीं रहती, अपितु शोषित–बहिष्कृत चमारों का हित, उनका उत्सर्ग, उनकी सेवा ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाते हैं। उन्हीं के साथ जीवन के अभाव और अनुभवों ने उसके आत्मसम्मान और आत्माभिव्यक्ति की भावनाओं को और भी शक्तिशाली बना दिया है।[5]

इसी भाँति 'कर्मभूमि' उपन्यास की सुखदा भी धर्म के नाम पर होने वाले अछूत वर्ग के शोषण का भरपूर विरोध करती है। उसकी दृढ़ता व अथक प्रयासों के फलस्वरूप ही मंदिर के द्वार अछूतों के लिए खोल दिए जाते हैं। यह भी सत्य है कि इस उपन्यास में अछूत वर्ग का संघर्ष सामाजिक व धार्मिक स्तर से आगे बढ़ता हुआ आर्थिक धरातल पर जा पहुँचा है। सभी दलित जातियाँ एक संगठित शक्ति के रूप में आन्दोलन के लिए तत्पर होती हैं। इस उपन्यास में ग्रामीण व शहरी दोनों ही स्तरों पर दलित वर्ग को निज अधिकारों के लिए संघर्षरत दिखाया है। उनका संघर्ष केवल मंदिर–प्रवेश का ही नहीं है, अपितु उन्हें अपने अधिकारों के लिए जमींदारों से लड़ते हुए भी दिखाया है। चमारों का चौधरी गूदड़ पूर्व जन्मों के फल के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध करता है– "ये सब मन को समझाने की बातें हैं बेटा, जिससे गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीरों के राग–रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते हैं कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया। आदमी का क्या दोष? पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल–बच्चे तक काम में लगे रहें और भोजन न मिले और एक–एक अफ़सर को दस हजार की तलब मिले।"[6]

'कर्मभूमि' के लेखन के पश्चात् वर्ग–संघर्ष व वर्ग–विषमता को लेकर प्रेमचन्द की सोच और अधिक परिपक्व दिखाई पड़ती है। 'गोदान' में वह समाज में व्याप्त वर्ण–व्यवस्था का खुल कर विरोध करते प्रतीत होते हैं। धनिया को ऐसी चेतन नारी के रूप में चित्रित किया है जो सारे दुराग्रहों से मुक्त होकर झुनिया की रक्षा के लिए भोला महतो के साथ–साथ समूचे समाज से टक्कर लेती है। झुनिया को अपने घर में आश्रय देकर वह अपने नैतिक साहस का परिचय देती है और विषम सामाजिक परिस्थितियों के प्रति विद्रोह जताती है। मातादीन और चमारों की बिरादरी द्वारा बहिष्कृत सिलिया को आगे बढ़कर थामती है और सिलिया को अपने घर में आश्रय देकर जात–पात का प्रबल विरोध करती हुई उदात्त मानव–प्रेम का सन्देश देती प्रतीत होती है।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने वर्ग–विषमता के एक अन्य पहलू को भी दर्शाया है कि सवर्ण जाति के पुरुषों की दृष्टि में असवर्ण नारी केवल भोग लिप्सा का साधन मात्र है। पं0 दातादीन का बेटा मातादीन सिलिया का शारीरिक शोषण तो करता है, किन्तु उसी औरत से शादी करने पर उसका ब्राह्मणत्व नष्ट होने का खतरा है। प्रेमचन्द सवर्ण वर्गीय मातादीन की इस दोहरी मानसिकता पर व्यंग्य करते हैं। सिलिया की बिरादरी के लोग सिलिया के अपमान का बदला लेते है। अन्त में मातादीन रूढ़िवादी धर्म त्याग कर सिलिया को अपनाता है – "मैं ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है, जो धर्म से मुँह मोड़े, वह चमार है।"[7]

मातादीन की इस स्वीकारोक्ति में प्रेमचन्द की परिपक्व सोच दिखाई देती है कि अछूतों को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है कि उनमें विवाह–सम्बन्ध स्थापित हों। यहाँ सिलिया व मातादीन का अन्तरजातीय विवाह करवा कर प्रेमचन्द वर्ग–भेद का स्पष्ट विरोध करते दिखाई पड़ते हैं।

निष्कर्ष

सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द परम्परागत वर्ण–व्यवस्था के प्रति आस्था न रखकर व्यक्ति–विशेष को उसके आचरण की शुद्धता और दयालुता के आधार पर ऊँची या नीची श्रेणी का मानने के पक्षपाती थे। उनका मानना था कि अस्पृश्यता समाज के लिए कोढ़ स्वरूप है। समाज की चारदीवारी से यह जितना दूर हो सके, उतना ही जल्द समाज स्वस्थ हो सकता है। अन्ततः हम शशि जेकब के शब्दों में कह सकते हैं – "मानव–मानव के मध्य यह भेद–भाव कदापि उचित नहीं और वह भी एक ऐसे कारण के लिए, जिसमें मानव का कोई हाथ नहीं। उच्च या निम्न कुल में उत्पन्न होना मानव के चाहने न चाहने पर नहीं होता, किन्तु उच्च व निम्न के भेद को मिटाना मानव के हाथ में होता है। इसे वह समूल मिटा सकता है। आज हमारा देश जिस अहम् दौर से गुज़र रहा है, उसके लिए आवश्यक है कि जाति वैमनस्य की खाई को पाट डाला जाए।"[8]

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. *डॉ0 सरोज प्रसाद, प्रेमचन्द के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिफलन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972, पृ0 110*
2. *डॉ0 मोहिनी शर्मा, हिन्दी उपन्यास और जीवन–मूल्य साहित्यागार, जयपुर, 1986, पृ0 146*
3. *डॉ0 हेमेन्द्रकुमार पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासः मूल्य संक्रमण, संघी प्रकाशन, जयपुर, 1974, पृ0 146*
4. *प्रेमचन्द, कर्मभूमि, अनीता प्रकाशन, दिल्ली–6, 1995, पृ0 92*
5. *कोमल कोठारी (संपा0), प्रेमचन्द के पात्र, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1970, पृ0 160*
6. *प्रेमचन्द, कर्मभूमि, अनीता प्रकाशन, दिल्ली–6, 1995, पृ0 157*
7. *वही, गोदान, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976, पृ0 357*
8. *शशि जेकब, महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1989, पृ0 109*